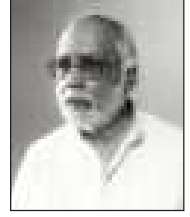


## आदिवासी अस्मिता और हिन्दी उपन्यास

विद्याभूषण



**आ**दिवासी भारत के जिस केंद्रीय खंड को झारखंड कहा जाता है और जिस आध बृहत्झारखंड राज्य के लिए अलग-अलग नामों से कई आंदोलन चलते रहे थे, वह भौगोलिक और प्रशासनिक दृष्टि से ब्रिटिश काल में चार राज्यों में विभाजित रहा था- पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, मध्य प्रदेश और बिहार। पिछली सदी के आखिरी साल के अन्त में बिहार और मध्य प्रदेश की भौगोलिक सीमाओं का विभाजन और पुनर्गठन हुआ। इस महापरिवर्तन के फलस्वरूप दो आदिवासी बहुल नये राज्य अस्तित्व में आये-झारखंड और छत्तीसगढ़।

सदियों से आवागमन के लिहाज से झारखंड एक खुला क्षेत्र रहा है। यहां बाहरी आबादी के आने और बसने का सिलसिला बहुत पुराना है। अंग्रेजों के शासन काल के लगभग पौने दो सौ वर्षों की अवधि में भी आदिवासी और गैरआदिवासी आबादी पड़ोसी प्रांतों से यहां आती रही। मौजूदा झारखंड राज्य तीन प्रमंडलों के अंतर्गत छोटानागपुर और संताल परगना के 24 जिलों का प्रशासनिक क्षेत्र है जिसका भौगोलिक क्षेत्रफल 1 लाख 90 हजार 50 वर्ग किलोमीटर है। यूं भी चौदह राज्यों में पसरे आदिवासी भारत का यह इलाका आदिवासी आबादी के घनत्व और संख्या बल की दृष्टि से शिखर पर है।

मानवशास्त्री रॉबर्ट रेडफिल्ड संस्कृति के संबंध में जिसे 'ग्रेट ट्रेडिशन' कहते हैं और जिसे नामवर सिंह ने 'दूसरी परंपरा की खोज' में शास्त्र और लोक जैसे शब्दों में प्रस्तुत किया है, अब तक उसके अध्ययन के कई सिद्धांत विकसित हो गये हैं, तो भी जनजातीय संस्कृति के लिए ऐसे विभाजन या मानक पर्याप्त नहीं लगते। चूंकि साहित्य अपनी कथ्यवस्तु का रूपांकन व्यापक मानवीयता की दृष्टि से करता है और समाजविज्ञानी वस्तुनिष्ठता उसके ट्रीटमेंट में नहीं निभ पाती, इसलिए अधिक प्रासंगिक प्रश्न यह है कि जनजातीय जीवन को आंकने की लेखकीय समाज-दृष्टि क्या हो!

गौरतलब बात यह भी है कि जिसे हम जनजातीय जीवन कहते हैं, उसका कोई सार्वभौमिक चरित्र या स्वरूप नहीं बताया जा सकता। कुछेक बुनियादी समानताओं के बावजूद प्रत्येक जनजाति की अपनी सांस्कृतिक विलक्षणताएं हैं, अपने सामाजिक विधि-विधान हैं, अपना अर्थ-तंत्र या आर्थिक व्यवस्था है, नैतिक-धार्मिक मान्यताएं हैं और सदियों से चली आ रही परंपराएं हैं। विकास के मानकों के आधार पर भी सभी जनजातियां एक ही पड़ाव पर टिकी हुई नहीं हैं। उनके लोक गीत, नृत्य-संगीत, आहार प्रकार, अलंकरण अभिरुचियां या उत्सव-त्योहारों के कैलेंडर भी समान नहीं हैं। जाहिर है कि इतनी विभिन्नताओं के बीच रहते हुए किसी समतुल्य एकीकृत समाज व्यवस्था, सांस्कृतिक मूल्य और आर्थिक जीवन की कोई एक रूपरेखा नहीं बनायी जा सकती। नामकरण, सामुदायिक जीवन का नियमन करने वाले समाज संगठन, पूजा विधि और ईश्वरविषयक धारण-इन सबमें पर्याप्त अंतर और एकल वैशिष्ट्य है। इसी कारण हिंदी के जनजातीय उपन्यासों में इन विविधताओं और कतिपय विलक्षणताओं का अपेक्षित निवेश हुआ है।

राजेन्द्र अवस्थी ने मध्य प्रदेश की गोंड जनजाति के युवा-गृह 'घोटुल' का जैसा वर्णन किया है, वह योगेंद्रनाथ सिनहा के 'हो' जनजाति की प्रेम कथा के आधार पर चलने वाले उपन्यास 'वन के मन' में सुलभ नहीं है। जाहिर है, ये दोनों कथाकार दो भिन्न जीवन शैलियों में ढले समाज संदर्भों का अंकन कर रहे थे। अकेले छत्तीसगढ़ के आदिवासी जिले बस्तर को ध्यान में रखें तो कहा जा सकता है कि लगभग साढ़े पांच लाख आबादी वाले इस जिले में गोंड आदिवासी जिस सामाजिक अवस्था में हैं, इसी जिले के प्रतिबंधित तहसील अबूझमाड़ के बीस हजार गोंड उससे नितांत भिन्न स्थिति में जी रहे हैं। जब यह चर्चा छत्तीसगढ़ की 59 जनजातियों या झारखंड की 32 जनजातियों के संदर्भ में जाती हो तो विषमताओं के उलझे ओर-छोर का अनुमान मिल सकता है।

लेकिन इन बहुलताओं के बावजूद कई आधारभूत संरचनाओं की समानताओं का निर्देश सहजतापूर्वक किया जा सकता है। इतिहास के किसी न किसी मोड़ पर प्रत्येक जनजाति बाहरी लोगों के प्रवेश से आंदोलित हुई है और अपने जंगल, जमीन और प्रकृति प्रदत्त आजादी की रक्षा के लिए जुलम और शोषण के विरोध में विद्रोह पर आमादा हुई है। प्रायः सभी जनजातियों में बाहरी दमन के खिलाफ जंग की नियति समान रूप से देखी जा सकती है। आदिम युग से आधुनिक युग तक बाहरी हस्तक्षेप और अतिक्रमण का सिलसिला उन्हें एक ही नियति से जोड़ता है। इसलिए 'दिकू' विरोध का मनोभाव सभी जनजातियों में एकरस बना रहा है, हालांकि उसके समाज-संदर्भ बदलते गये हैं।

हिंदी के जनजातीय उपन्यासों में यह स्थिति बहुत मुखर होकर अंकित हुई है। सन् अस्सी के बाद की हिंदी कथा कृतियों में वर्णित सामाजिक यथार्थ इस बात की तस्दीक करता है कि राजनीतिक बेचैनी आदिवासी अस्मिता का पर्याय बन गयी है। आज जनजातियों को केंद्र में रखकर रचा जा रहा कथा-साहित्य पुरातन परंपराओं और सांस्कृतिक अवशेषों का संग्रहालय बन कर कतई तुष्ट नहीं है। डूब, पार, संघर्ष गगन घटा घहरानी, धार, मौन घाटी, समर शेष है, जहां खिलते हैं रक्तपलाश, पांव तले की दूब या ग्लोबल गांव के देवता जैसी औपन्यासिक कृतियां आदिवासी भारत के नये तापमान और मौसम से पाठकों को जोड़ती हैं।

पहले हिंदी जनजातीय उपन्यासों, बरास्त आंचलिक कथा यात्रा, के पिछले तीन दशकों का परिदृश्य एक कोलाज का निर्माण ही कर सका था। एक ऐसे कोलाज का जिसमें तेजी से बदल रहे दृश्य पटल पर दिशाहीन कोहरा बिछा हुआ था। उनके माध्यम से जनजातियों के आंसू और पसीने, बसंत और सुखाड़, परब और त्यौहार के मौसम और मिजाज के कई-कई रंगों या छवियों से कथित सभ्य समाज परिचित हो सकता है, किंतु उनकी मार्फत आदिवासी जीवन के परंपरागत मूल्यों और आस्थाओं से बीसवीं सदी के इतिहास की मुठभेड़ का इतिवृत्त नहीं सुलभ होता।

चर्चित कथाभूमि के हिंदी उपन्यासों की सबसे बड़ी संख्या गोंड आदिवासियों के समाज जीवन की कथा प्रस्तुत करती है। कचनार (वृंदावन लाल वर्मा) रथ के पहिए (देवेन्द्र सत्यार्थी), जंगल के फूल और सूरज किरण की छांव (राजेन्द्र अवस्थी), और साल वनों का द्वीप (शानी) इस संदर्भ में अविस्मरणीय हैं। अंतिम उपन्यास गोंडों की उपजाति मारिया गोंड के परिवेश को चित्रित करता है। झारखंड की उरांव जनजाति को केंद्र में रखकर लिखे गये उपन्यास संस्था की दृष्टि से दूसरे क्रम पर आते हैं। चलती पिटारी (रामदीन पांडेय), सांवला पानी (भालचंद्र ओझा), गगन घटा घहरानी (मनमोहन पाठक), काला पादरी

(तेजिन्द्र) जहां खिले हैं रक्तपलाश और पटार पर कोहरा (राकेश कुमार सिंह) में झारखंड की दूसरी प्रमुख जनजाति 'उरांव' का कथायन हुआ है। 'हो' जनजाति को केन्द्र में रख कर लिखे गये उपन्यास हैं-वन लक्ष्मी और वन के मन में (योगेंद्र नाथ सिनहा), वनपाखी (गुरुवचन सिंह)। इसी तरह पलास के फूल (संतोष प्रीतम), मौन घाटी, सोन पहाड़ी और जंगल के गीत (पीटर पाल एक्का), में 'मुंडा' आदिवासी हैं तो समर शेष है (विनोद कुमार), बाजत अनहद ढोल (मधुकर सिंह) और जो इतिहास में नहीं हैं (राकेश कुमार सिंह) में संताल समुदाय और ग्लोबल गांव के देवता (रणेन्द्र) में असुर जनजाति के संकटग्रस्त अस्तित्व का चित्रण हुआ है।

इस आंचलिक व सामुदायिक पहचान से अलग किस्म में कई ऐसे उपन्यास भी हैं जिनकी कथावस्तु किसी एक समुदाय के इर्दगिर्द नहीं घूमती, बल्कि वहां नगरीकरण और औद्योगीकरण के दौर में बदलते जनजातीय समाज के मध्य वर्ग और मजदूर वर्ग का चित्रण किया गया है। जैसे-जंगल के आसपास (राकेश वत्स), सावधान नीचे आग है, और धार (संजीव), गाथा भोगनपुरी (किशोर कुमार सिन्हा) मौसी और सीता (रमणिगा गुप्ता), चक्रव्यूह और हस्तक्षेप (श्रवणकुमार गोस्वामी), काली माटी (सतीशचन्द्र)।

'सागर, लहरें और मनुष्य' (उदय भट्ट) में मुंबई के बारसोवा बीच के कोलियों के संघर्ष की प्रस्तुति हुई है, जबकि 'कब तक पुकारूं' (रांगेय राघव) में राजस्थान के नटों के जीवन और शोषण का और धरती मेरा घर में बंजारा लोहार जिप्सी समाज का सच वर्णित हुआ है। श्याम परमार ने 'मोरझल' में मालवा क्षेत्र के भीलों की जीवन-शैली को एक प्रेम कथा के जरिए प्रस्तुत किया है तो जयप्रकाश भारती ने 'कोहरे में खोये चांदी के पहाड़' में राजस्थान की बहुप्रथा में विश्वास करने वाली जौनसार बाबर जनजाति को कथा विषय बनाया है।

जनजातीय कथाभूमि को हिंदी पट्टी से बाहर ले जाने वाली औपन्यासिक कृतियों की मुख्तसर चर्चा भी जरूरी लगती है। हिमांशु जोशी के उपन्यास 'महासागर' में निकोबार द्वीप की जनजातीय कथा पेश की गयी है उपन्यास का नायक एक प्रवासी भारतीय साकेत है और नायिका है जनजातीय कन्या नोनो। इसी तरह कृष्णचंद्र शर्मा भिक्खु ने अपने उपन्यास 'रक्तयात्रा' में नगा जनजाति की कई पीढ़ियों की जीवन गाथा तीन खंडों में अंकित की हैं। श्रीप्रकाश मिश्र के उपन्यास 'जहां बांस के फूल खिलते हैं' में मिजो जनजाति का सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष चित्रित हुआ है।

जनजातीय चरित्र जिन उपन्यासों में विशिष्ट प्रयोजन और अर्थ से संयुक्त होकर प्रसंगवश उजागर हुए हैं, उनमें 'मैला आंचल' सर्वोपरि है। वैसे, मेरी गंज की केंद्रीय कथा में संताल टोली के कथायन को

पर्याप्त विस्तार नहीं मिला है, तो भी जंगल, जमीन और जनी की उनकी अस्मिता मैदानी समाज के कूटनीतिक दांवपेंच के सामने कैसे लाचार हो जाती है, यह चटख रंगों में तलखी के साथ उभर कर सामने आता है। ऐसे कई दूसरे उदाहरण भी जुटाये जा सकते हैं।

आधुनिक जनजातीय जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है राज्य तंत्र में प्रशासन के कई स्तरों पर उनकी बढ़ती हुई भागीदारी। सरकारी सेवाओं में आरक्षण के प्रावधान के चलते वहां एक नये मध्य-उच्च वर्ग का अभ्युदय संभव हुआ है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार करें तो एक ओर विलुप्त होती जा रही बिरजिया और बिरहोर जैसी जनजातियां हैं जो आदिम कबीले के अंधकारग्रस्त जीवन विश्वास और शैली को जैसे-तैसे ढो रही हैं, तो दूसरी ओर उच्च शिक्षित प्रशिक्षित आदिवासी आबादी का वह वर्ग भी है जो नये परिवर्तनों का वाहक भी है, उत्पादक और उपभोक्ता भी। आज देश के किसी भी हिस्से में सुशिक्षित आदिवासियों को प्रशासनिक मशीनरी के विभिन्न स्तरों पर कार्यरत देखा जा सकता है। चक्रव्यूह (श्रवण कुमार गोस्वामी) में पहाड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति पीटर और कुलसचिव पहाड़ी के चरित्र इस वर्ग के प्रतिनिधि पात्रा हैं। इधर 'जोहार गोपी दा' जैसी कई कहानियों में ऐसे जनजातीय चरित्रों की उपस्थिति बड़ी है जो अपनी पुरानी जातीय पहचान को दरकिनार कर नये बनते छिन्नमूल वर्ग (रूटलेस क्लास) में दाखिल हो रहे हैं।

बीसवीं सदी में भारतीय आदिवासी समुदायों की अर्थ व्यवस्था में वस्तु-विनिमय प्रणाली के नष्ट होने के बाद जब से मुद्रा विनिमय का चलन बढ़ा, तब से जनजातीय कबीले महाजनी शिकंजे में फंसते चले गये हैं। अभूतपूर्व औद्योगीकरण के साथ विस्थापन का नया जलजला शुरू हुआ। नतीजतन, इन अंचलों में एक खेतिहर समाज भूमिहीन मजदूर वर्ग में बदलने को अभिशप्त हुआ है। कोयलांचल-शिलांचल का पूरा झारखंड क्षेत्र ऐसे हादसों से भरा पड़ा है। धार या समर शेष है इसी जमीन के उपन्यास हैं। इसकी अनुगूँज 'डूब' और 'पार' (वीरेंद्र जैन) तक सुमुखर सुनी जा सकती है। महाजनी और सामंती दखलंदाजी की मिसालें 'सावधान नीचे आग है' तक पसरी हुई हैं। इसी तरह 'पांव तले की दूब' (संजीव) में जनजातीय समाज की नवीनतम आकांक्षाओं और संघर्षों को वैचारिक आलोड़नों के साथ उत्कर्षित किया गया है। इस अर्थ में वह हिंदी पट्टी की जनजातियों के विगत अथवा अतीत के विघटन का सखेद आख्यान नहीं है, बल्कि उसमें झारखंडी अस्मिता के तात्कालिक वर्तमान और अनागत भवितव्य की पदचाप सुनायी पड़ती है।

आदिवासी कथाभूमि के कई अन्य उपन्यास पठनीय व उल्लेख्य बताये जा सकते हैं। नवें दशक के प्रारंभ में प्रकाशित 'गगन घटा घहरानी', मध्य में प्रकाशित 'समर शेष है' और नयी सदी के प्रारम्भ

में 'जहां खिले हैं रक्तपलाश' और 'पठार पर कोहरा' जनजातीय कथाभूमि के कई सामयिक पहलुओं से विश्वसनीय रिश्ता जोड़ता है। एक और औपन्यासिक रचना 'धपेल' को जोड़कर चर्चा के दायरे में विस्तृत होने की गुंजाइश भी पायी जा सकती है। बेशक, समकालीन कहानियों में यह फलक अधिकाधिक उत्कीर्ण हुआ है।

सालवें दशक से अपनी लेखकीय यात्रा शुरू करने वाले मनमोहन पाठक का विचारयोग्य कृतित्व देर से सामने आया। उनको ख्याति देने वाली औपन्यासिक कृति है 'गगन घटा घहरानी' जिसमें पलामू-रोहतास की सीमा रेखा पर अवस्थित उरांव आदिवासियों को केंद्रीय कथा के समांतर गुम्फित ग्राम कथा के ब्याज से महाजनी सामंती व्यवस्था और लोक तत्व के वैषम्य और संघर्ष का चित्रण हुआ है।

सामंती खंडहर अब भी जिन अंचलों में पायेदार बने हुए हैं उनमें झारखंड का पलामू क्षेत्र भी है। उत्तर और मध्य बिहार में इन काली ताकतों के निशाने पर मुख्यतः दलित जातियां हैं तो झारखंड में आदिवासी कबीले। पलामू उन विरल अपवादों में है जहां सामंती जुल्म की गिरफ्त में आदिवासी और सदान दोनों रहे हैं। आदमीयत के इस बियावान से परिचय करना हो तो 'गगन घटा घहरानी' में लोक तत्व और जनचेतना के सहकार से एक प्रामाणिक साक्षात्कार सुलभ हो सकता है- पौराणिक और मिथकीय रुझान से अलग। इस अर्थ में यह एक आंचलिक उपन्यास है कि यहां आकर नागर संस्कृति का बौद्धिक व्याकरण और भाषाई तिलिस्म टूटते हैं।

बेशक, उन्हें इस उपन्यास से निराश होना पड़ सकता है जो जनजातीय कथा से आदिवासी कबीलों के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य के लोकरंजनकारी उद्घाटन की अपेक्षा करते हैं। उन्हें भी निराशा मिल सकती है जो झारखंड आंदोलन के आलोड़नों की तलछट की किताबी मीमांसा का प्रतिफलन उपन्यास में देखना चाहते हैं। जाहिर है, इस कृति में उरांव समाज के सांस्कृतिक उपशेषों का या समाज संगठनों के गुह्य विधि-विधानों का कोई महिमा मंडन नहीं हुआ है और न ही राजनीतिक मौसम का अभिलेख दर्ज किया गया है। यह अपने अंचल के समाज जीवन का नैसर्गिक आख्यान है। इस ग्राम कथा में आंचलिक उपन्यास के कई रुझान साफ पहचाने जा सकते हैं।

उपन्यास में वस्तुगत असंगतियां, वैचारिकता की लेखनीय दिशा, यथार्थ की कच्ची सामग्री का रचनात्मक उपयोग, रचना शिल्प, आंचलिकता की शर्तों का निर्वाह जैसे मुद्दों पर अलग-अलग उपशीर्षकों के तहत विवेचन-विश्लेषण के तार्किक ब्यौरों में अगर नहीं जाया जाये तो भी जो एक खास रुझान ध्यान खींचता है, वह यह कि इस उपन्यास में चरित्रों की बड़ी भीड़ है जबकि यह चरित्र प्रधान उपन्यास नहीं है। इस अंचल में सदियों से जारी मानवाधिकारों के हनन की शतरंज और

उसके बड़े छोटे मोहरों को यह उपन्यास अपंग होते हुए चित्रित करता है।

आठवें दशक में उठी लघुकथा की लहर में जिन रचनाकारों ने ध्यान खींचा, उनमें एक नाम श्याम बिहारी श्यामल भी है। इस लघुकथाकार की औपन्यासिक रचना है 'धपेल'। पुस्तक के फ्लैप पर छपे अनाम इंट्रो में कहा गया है कि यह पलामू के जन जीवन में जारी संघर्ष का चित्रण करने वाला हिंदी का पहला उपन्यास है। इस प्रकाशकीय अभिमत की नाहक परीक्षा न भी की जाये तो भी इस बात में अत्युक्ति नहीं है कि सामंती शोषण के खिलाफ जंग का मैदान इन दिनों नक्सली जमातों के हाथ आ गया है तो यह इस अंचल की बेतरतीब राजनीति और गलत समाज प्रबंधन के कारण ही है। लेकिन क्या इस पृष्ठभूमि पर रची गयी हर कृति खास मुकाम को हासिल कर लेती है? जाहिर है, नहीं। धपेल भी अपवाद नहीं है।

समर शेष है पत्रकारिता से जुड़े विनोद कुमार का पहला उपन्यास था। संधाल समाज की यह संघर्ष गाथा विगत चार दशकों की घटनाओं को अपनी कथावस्तु में समाविष्ट करती है। इस कथानक में जीवनी और संस्मरण का क्रॉस औपन्यासिक सीमांतों का अतिक्रमण लग सकता है।

इस उपन्यास में झारखंड मुक्ति मोर्चा के गुरुजी शिवू सोरेन और मार्क्सवादी समन्वय समिति के कामरेड ए.के. राय जैसे कई जाने सुने चरित्र नामतः उपस्थित हैं। तो क्या समर शेष है को राजनीतिक जीवनी मान लिया जाये या उसे ऐतिहासिक कथा के खाने में पहुंचा दिया जाये! इस उपन्यास की लक्ष्यसिद्धि यह है कि इसे कठघरे में डालकर उसके साथ तर्कसंगत न्याय नहीं किया जा सकता।

बहुत पहले पहल के एक अंक में लौह नगरी बोकारो पर दस धारदार कविताएं प्रस्तुत करने वाले कवि उमेश्वर दयाल ने इस उपन्यास के फ्लैप पर छपी अपनी टिप्पणी में कहा है कि यह हिंदी में इस क्षेत्र को अधिक पूर्णता के साथ व्यक्त करने वाला पहला उपन्यास है। यह सुविदित है कि अपने देश में जिलों की कुल संख्या अब छः सौ से ऊपर पहुंच चुकी है और इन तमाम जिलों में जन संघर्ष का कोई न कोई मोर्चा खुला हुआ है। अधिकांश जिलों में कम से कम बेहतर नागरिक सुविधाओं की मांग का एक कभी न खत्म होने वाला मुद्दा तो बचा हुआ है ही। तो क्या सिर्फ स्थानिकता के इस भाववादी आग्रह के कारण ही कोई कथा कृति महत्वपूर्ण हो जाती है? बेशक नहीं। लेकिन औद्योगीकरण और विस्थापन की गांठ खोलते हुए 'समर शेष है' एक सम्पूर्ण उपन्यास बन गया है।

कोयलांचल में लोक संस्कृति और श्रम संस्कृति के आर्थिक-सामाजिक टकराव की कहानी पुरानी है। नया यह है कि इस पठार पर बोकारो वह अकेला शहर है जो कारखाने की चिमनियों के साथ नियोजित ढंग से छठे दशक में खड़ा हो गया। 'समर शेष है' की कथावस्तु ने यह

नजीर सामने रख दी है कि औद्योगीकरण से सिर्फ उत्पादन और विकास नहीं होता, विस्थापन और विनाश भी होता है, बल्कि वही अधिक होता है। इस नये उभरे उद्योग केंद्र के इर्द-गिर्द गांवों का जो सदियों शांत जीवन था, वह अनेक स्तरों पर, कई अर्थों में ध्वस्त होता गया है। उद्योग के साथ व्यापार के पसरते पांवों ने महाजनी जाल में प्रकृति और मनुष्य दोनों को बंधुआ बना दिया है। 'समर शेष है' ने इस औपनिवेशिक ढांचे के सर्वग्रासी चरित्र को अपने कथा पात्रों के दैनंदिन जीवन की सिलसिलेवार घटनाओं के वर्णन क्रम में रेखांकित किया है।

चरित्र को नायकत्व से जोड़कर देखने की दृष्टि कथा समीक्षा के मानकों से खारिज हो चुकी है। रैल्फ फॉक्स ने जिस ऐतिहासिक संदर्भ में यूरोपीय उपन्यास में नायक की मौत की घोषणा की थी, उसका बहुविध विस्तार हो चुका है। हिंदी में नायक सिर्फ मरनासन्न है, उसकी मौत, आंचलिक उपन्यासों के अस्वीकार के बावजूद, अभी बाकी है। अधिक सच यह है कि चरित्रों का नायकत्व शनैः शनैः छीज रहा है। 'समर शेष है' में नायक को भूमिपुत्र की सनद देकर विनोद कुमार ने उसे जन समर्थन का राजनीतिक आधार सुलभ कराना चाहा है, लेकिन जब से विस्थापन के खिलाफ लड़ी जा रही लड़ाई में राजनीतिक पहलुओं का समावेशी विस्तार हुआ, तब से किस्तों में इस नायकत्व की शव परीक्षा शुरू हो गयी है। कुल मिलाकर विनोद कुमार इस पतनशील दौर में आस्था की टेक खोजने की ईमानदार कोशिश में जुटे हैं।

समग्रता में देखना चाहें तो आदिवासी अस्मिता के विविध पहलुओं को किसी एक उपन्यास की कथा परिधि में खोजना उस कृति के साथ ज्यादाती होगी। इतिहास, परम्परा, संस्कृति, संघर्ष, आधुनिकीकरण, नगरीकरण, उद्योगीकरण और विस्थापन के दंश और उसकी परिणतियों की टोह लेनी हो तो डूब, पार, काला पादरी, धार, संघर्ष, समर शेष है या जहां खिले हैं रक्तपलाश और ग्लोबल गांव के देवता जैसे तमाम उपन्यासों के बीच से गुजरना होगा। जनजातीय कथाभूमि पर पांचवें दशक तक लिखे गये उपन्यासों की संख्या सिर्फ उंगलियों तक सिमट कर रह गयी थी-वन विहंगिनी (1909), कोरा कुमारी (1930) और चलती पिटारी (1938) कचनार (1947) और रथ के पहिए जबकि नयी सदी के पहले दशक में ही यह संख्या पीछे छूट चुकी है- जंगल के गीत, पठार पर कोहरा, जहां खिले हैं रक्तपलाश, जो इतिहास में नहीं हैं ग्लोबल गांव के देवता। इन औपन्यासिक कृतियों पर स्वतंत्र चर्चा की जरूरत है।

□□

प्रतिमान प्रकाशन, शिवशक्ति  
लेन, किशोरीगंज, हरमू पथ,  
रांची-834001 (झारखंड)  
फोन : 0651-2215860  
/99551-61422